

## Chapter सात

### विदुर द्वारा अन्य प्रश्न

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः ।  
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

#### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; मैत्रेयम्—मैत्रेयमुनि से. मैत्रेय;  
द्वैपायन-सुतः—द्वैपायन का पुत्र; बुधः—विद्वान्; प्रीणयन्—अच्छे लगने वाले ढंग से; इव—मानो; भारत्या—अनुरोध के रूप  
में; विदुरः—विदुर ने; प्रत्यभाषत—व्यक्त किया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, जब महर्षि मैत्रेय इस प्रकार से बोल रहे थे तो  
द्वैपायन व्यास के विद्वान पुत्र विदुर ने यह प्रश्न पूछते हुए मधुर ढंग से एक अनुरोध व्यक्त किया।

विदुर उवाच

ब्रह्मन्कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।  
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कथम्—कैसे; भगवतः—भगवान् का; चित्-मात्रस्य—पूर्ण आध्यात्मिक  
का; अविकारिणः—अपरिवर्तित का; लीलया—अपनी लीला से; च—अथवा; अपि—यद्यपि यह ऐसा है; युज्येरन्—घटित  
होती हैं; निर्गुणस्य—वह जो भौतिक गुणों से रहित है; गुणाः—प्रकृति के गुण; क्रियाः—कार्यकलाप।

श्री विदुर ने कहा : हे महान् ब्राह्मण, चूँकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् संपूर्ण आध्यात्मिक  
समष्टि हैं और अविकारी हैं, तो फिर वे प्रकृति के भौतिक गुणों तथा उनके कार्यकलापों से किस  
तरह सम्बन्धित हैं? यदि यह उनकी लीला है, तो फिर अविकारी के कार्यकलाप किस तरह  
घटित होते हैं और प्रकृति के गुणों के बिना गुणों को किस तरह प्रदर्शित करते हैं?

तात्पर्य : जैसाकि पिछले अध्याय में वर्णन हो चुका है, परमात्मा अर्थात् परमेश्वर तथा जीवों में  
अन्तर यह है कि विराट जगत को उत्पन्न करने में भगवान् के कार्यकलाप उनकी विविध शक्तियों के  
द्वारा सम्पन्न होते हैं, किन्तु यह जगत जीवों को मोहग्रस्त करने वाला होता है। इसलिए भगवान्  
शक्तियों के स्वामी हैं, जबकि जीव उनके अधीन रहते हैं। विदुर दिव्य कार्यकलापों के विषय में  
विविध प्रश्न पूछकर इस भ्रान्त धारणा को स्पष्ट कर रहे हैं कि जब भगवान् पृथ्वी पर अपने अवतार के  
रूप में प्रकट होते हैं या अपनी समस्त शक्तियों समेत स्वयं प्रकट होते हैं, तो वे भी सामान्य जीव की  
तरह माया के द्वारा प्रभावित होते हैं। सामान्यतया यह उन अल्पज्ञ दार्शनिकों की धारणा है, जो भगवान्

तथा जीवों के पद को एक स्तर का मानते हैं। विदुर तो महर्षि मैत्रेय को इन तर्कों का खण्डन करते सुन रहे हैं। इस श्लोक में भगवान् को *चिन्मात्र* या पूर्णतया आध्यात्मिक बतलाया गया है। भगवान् में अनेक अद्भुत वस्तुओं को, चाहे वे नश्वर हों या स्थायी हों, उत्पन्न करने तथा प्रकट करने की असीम शक्तियाँ हैं। चूँकि यह भौतिक जगत उनकी बहिरंगा शक्ति की सृष्टि है, अतएव यह नश्वर प्रतीत होता है। यह विशेष अन्तरालों के बाद प्रकट होता है, कुछ काल तक स्थित रहता है और पुनः विलय होकर उनकी निजी शक्ति में संरक्षित हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१९) में वर्णन हुआ है— *भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*। किन्तु उनकी अन्तरंगा शक्ति की सृष्टि, आध्यात्मिक जगत, भौतिक जगत की तरह नश्वर न होकर नित्य है और दिव्य ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, सौन्दर्य तथा यश से पूर्ण है। भगवान् की शक्तियों की ऐसी अभिव्यक्तियाँ शाश्वत होती हैं और *निर्गुण* कहलाती हैं अर्थात् वे भौतिक प्रकृति के समस्त गुणों के प्रभाव से, यहाँ तक कि सतोगुण से भी मुक्त होती हैं। आध्यात्मिक जगत भौतिक सत्त्व से भी दिव्य है, अतः अपरिवर्तनीय है। चूँकि परमेश्वर ऐसे नित्य तथा अपरिवर्तनीय गुणों के भौतिक प्रभाव जैसी किसी भी वस्तु से कभी अधीन नहीं बनते अतः उनके कार्यकलाप तथा रूप का जीवों की तरह माया के अधीन होना किस तरह सोचा जा सकता है ?

एक जादूगर या बाजीगर अपने कार्यों तथा कलाओं से अनेक चमत्कार प्रदर्शित करता है। वह अपनी जादूगरी से गाय बन सकता है, फिर भी वह गाय नहीं होता, किन्तु साथ ही जादूगर द्वारा प्रदर्शित गाय उससे भिन्न नहीं है। इसी तरह भौतिक शक्ति भगवान् से भिन्न नहीं है, क्योंकि यह उन्हीं की उद्भास है, किन्तु उसी के साथ शक्ति की यह अभिव्यक्ति भगवान् नहीं है। भगवान् का दिव्य ज्ञान तथा शक्ति सदैव वैसे ही बने रहते हैं, वे बदलते नहीं, भले ही वे भौतिक जगत में प्रदर्शित हों। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, अतएव भौतिक प्रकृति के गुणों द्वारा उनका कलुषित, परिवर्तित या अन्यथा प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा *सगुण* हैं, किन्तु साथ ही वे *निर्गुण* हैं, क्योंकि वे भौतिक शक्ति के सम्पर्क में नहीं रहते। कारागार के प्रतिबन्ध उन बन्दियों पर लागू होते हैं, जो राजा के कानून द्वारा दण्डित किए गये होते हैं, किन्तु राजा कभी भी कानून की ऐसी जटिलताओं द्वारा प्रभावित नहीं होता, भले ही वह अपनी सदिच्छा से कारागार का दौरा करे। *विष्णु पुराण* में भगवान् के षडैश्वर्यों

को उनसे अभिन्न बताया गया है। दिव्य ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति, सौन्दर्य तथा त्याग—ये सारे ऐश्वर्य भगवान् से अभिन्न हैं। जब वे इस जगत में ऐसे ऐश्वर्यों का स्वयं प्रदर्शन करते हैं, तो भौतिक प्रकृति के गुणों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। चिन्मात्रत्व शब्द इसकी गारंटी है कि भगवान् के कार्यकलाप सदैव दिव्य होते हैं चाहे वे भौतिक जगत में ही प्रदर्शित क्यों न हों। उनके कार्यकलाप स्वयं उन पूर्ण पुरुषोत्तम के तुल्य हैं, अन्यथा शुकदेव गोस्वामी जैसे मुक्त भक्त उनके द्वारा आकृष्ट न होते। विदुर ने पूछा कि भगवान् के कार्यकलाप किस तरह भौतिक प्रकृति के गुणों वाले हो सकते हैं जैसाकि कभी-कभी अल्पज्ञों द्वारा गलत आकलन किया जाता है? भौतिक गुणों की नश्वरता भौतिक देह तथा आत्मा के मध्य अन्तर के कारण है। बद्ध आत्मा के कार्यकलाप भौतिक प्रकृति के गुणों के माध्यम से प्रदर्शित किये जाते हैं, अतएव वे देखने में विकृत प्रतीत होते हैं। किन्तु भगवान् का शरीर तथा स्वयं भगवान् एक हैं और जब भगवान् के कार्यकलाप प्रदर्शित किये जाते हैं, तो वे निश्चय ही, सभी प्रकार से भगवान् से अभिन्न होते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो लोग भगवान् के कार्यकलापों को भौतिक मानते हैं, वे निश्चय ही भ्रमित हैं।

क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः ।

स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

क्रीडायाम्—खेलने के मामले में; उद्यमः—उत्साह; अर्भस्य—बालकों का; कामः—इच्छा; चिक्रीडिषा—खेलने के लिए इच्छा; अन्यतः—अन्य बालकों के साथ; स्वतः-तृप्तस्य—जो आत्मतुष्ट है उसके लिए; च—भी; कथम्—किस लिए; निवृत्तस्य—विरक्त; सदा—सदैव; अन्यतः—अन्यथा।

बालक अन्य बालकों के साथ या विविध क्रीड़ाओं में खेलने के लिए उत्सुक रहते हैं, क्योंकि वे इच्छा द्वारा प्रोत्साहित किये जाते हैं। किन्तु भगवान् में ऐसी इच्छा की कोई सम्भावना नहीं होती, क्योंकि वे आत्म-तुष्ट हैं और सदैव हर वस्तु से विरक्त रहते हैं।

तात्पर्य : चूँकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वय हैं, अतः इसकी सम्भावना नहीं है कि उनके अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व हो सकता हो। वे अपनी शक्तियों द्वारा स्वांशों तथा विभक्तांशों के विविध रूपों में अपना विस्तार करते हैं जिस तरह अग्नि उष्मा तथा प्रकाश द्वारा अपना विस्तार करती है। चूँकि स्वयं भगवान् के अतिरिक्त कोई अन्य अस्तित्व नहीं है, अतः किसी भी वस्तु के साथ

भगवान् का साहचर्य अपने ही साथ साहचर्य को प्रकट करता है। भगवद्गीता (९.४) में भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

“विराट स्थिति की पूर्ण अभिव्यक्ति भगवान् के निर्गुण रूप का ही विस्तार है। सारी वस्तुएँ केवल उन्हीं में स्थित हैं, फिर भी वे उनमें नहीं हैं।” यह भगवान् की आसक्ति तथा विरक्ति का ऐश्वर्य है। वे हर वस्तु के प्रति आसक्त हैं फिर भी सबों से विरक्त हैं।

अस्त्राक्षीद्भगवान्निश्चं गुणमय्यात्ममायया ।

तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

अस्त्राक्षीत्—उत्पन्न कराया; भगवान्—भगवान् ने; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; गुण-मय्या—भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से समन्वित; आत्म—अपनी; मायया—शक्ति द्वारा; तया—उसके द्वारा; संस्थापयति—पालन करता है; एतत्—ये सब; भूयः—तब पुनः; प्रत्य-अपिधास्यति—उल्टे विलय भी करता है।

भगवान् ने प्रकृति के तीन गुणों की स्वरक्षित शक्ति द्वारा इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि कराई। वे उसी के द्वारा सृष्टि का पालन करते हैं और उल्टे पुनः पुनः उसका विलय भी करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् द्वारा इस विराट ब्रह्माण्ड की रचना उन जीवों के लिए की जाती है, जो नकल द्वारा भगवान् से एकाकार होने के भ्रान्त विचार में बह जाते हैं। प्रकृति के तीनों गुण बद्धजीवों के मोह को और भी बढ़ाने वाले हैं। बद्धजीव माया द्वारा मोहित होकर अपनी दिव्य पहचान की विस्मृति के कारण अपने को भौतिक सृष्टि का एक अंश मानता है और इस तरह वह जन्म-जन्मांतर भौतिक कार्यों में बँध जाता है। यह भौतिक जगत स्वयं भगवान् के निमित्त नहीं है, अपितु यह उन बद्धात्माओं के लिए है, जो ईश्वर-प्रदत्त अल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके नियंत्रक बनना चाहते हैं। इस तरह बद्धात्माओं की बारम्बार जन्म-मृत्यु होती रहती है।

देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः ।

अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम् ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

देशतः—परिस्थितिवश; कालतः—काल के प्रभाव से; यः—जो; असौ—जीव; अवस्थातः—स्थिति से; स्वतः—स्वप्न से; अन्यतः—अन्यों द्वारा; अविलुप्त—लुप्त; अवबोध—चेतना; आत्मा—शुद्ध आत्मा; सः—वह; युज्येत—संलग्न; अजया—अज्ञान द्वारा; कथम्—यह ऐसा किस तरह है।

शुद्ध आत्मा विशुद्ध चेतना है और वह परिस्थितियों, काल, स्थितियों, स्वप्नों अथवा अन्य कारणों से कभी भी चेतना से बाहर नहीं होता। तो फिर वह अविद्या में लिप्त क्यों होता है?

तात्पर्य : सजीव प्राणी में चेतना सदैव विद्यमान रहती है और जैसाकि ऊपर कहा गया है किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित नहीं होती। जब कोई जीवित व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, तो वह सचेत रहता है कि उसने अपनी स्थिति बदल दी है। वह सदैव बिजली की तरह भूत, वर्तमान तथा भविष्य में विद्यमान रहता है। वह अपने भूतकाल की घटनाएँ स्मरण रख सकता है और विगत अनुभव के आधार पर अपने भविष्य के विषय में भी अनुमान लगा सकता है। वह कभी भी अपनी व्यक्तिगत पहचान नहीं भूलता, चाहे वह विकट परिस्थितियों में क्यों न फँसा हो। तो फिर जीव शुद्ध आत्मा के रूप में अपनी असली पहचान को भुला कर पदार्थ के साथ अपनी पहचान कैसे कर सकता है जब तक वह अपने से परे किसी वस्तु द्वारा प्रभावित न हो? निष्कर्ष यह है कि जीव अविद्या शक्ति द्वारा प्रभावित होता है जैसी कि *विष्णु पुराण* में और *श्रीमद्भागवत* के आरम्भ में इस की पुष्टि की गई है। *भगवद्गीता* (७.५) में जीव को *परा प्रकृति* कहा गया है और *विष्णु पुराण* में जीव का उल्लेख *परा शक्ति* के रूप में हुआ है। वह शक्ति के रूप में भगवान् का अंश है, किन्तु शक्ति-मान के रूप में नहीं। शक्ति-मान अनेक शक्तियाँ प्रदर्शित कर सकता है, किन्तु शक्ति किसी भी अवस्था में शक्तिमान की समता नहीं कर सकती। एक शक्ति दूसरी शक्ति द्वारा पराभूत हो सकती है, किन्तु शक्तिमान के लिए सारी ही शक्तियाँ वश में होती हैं। *जीवशक्ति* या भगवान् की *क्षेत्रज्ञ शक्ति* में बहिरंगा शक्ति अर्थात् *अविद्या-कर्म संज्ञा* द्वारा पराभूत होने की प्रवृत्ति रहती है और इस प्रकार वह भौतिक जगत की विषम परिस्थितियों में रखा जाता है। जीव अपनी असली पहचान को तब तक भुला नहीं सकता जब तक वह *अविद्या* शक्तिद्वारा प्रभावित न हो। चूँकि जीव में अविद्या शक्ति के प्रभाव की ओर झुकाव रहता है, अतएव वह कभी भी परम शक्तिमान के तुल्य नहीं हो सकता।

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः ।

अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥ ६ ॥

## शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; एकः—एकमात्र; एव एषः—ये सभी; सर्व—समस्त; क्षेत्रेषु—जीवों में; अवस्थितः—स्थित; अमुख्य—जीवों का; दुर्भागत्वम्—दुर्भाग्य; वा—या; क्लेशः—कष्ट; वा—अथवा; कर्मभिः—कार्यों द्वारा; कुतः—किसलिए।

भगवान् परमात्मा के रूप में हर जीव के हृदय में स्थित रहते हैं। तो फिर जीवों के कर्मों से दुर्भाग्य तथा कष्ट क्यों प्रतिफलित होते हैं?

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय से जो अगला प्रश्न पूछा, वह है—जीवों के हृदयों में परमात्मा रूप में भगवान् की उपस्थिति के बावजूद उन्हें इतने कष्ट तथा दुर्भाग्य क्यों झेलने पड़ते हैं? शरीर को फलवान वृक्ष माना जाता है और जीव तथा परमात्मा रूप में भगवान् उसमें बैठे दो पक्षियों के तुल्य हैं। व्यष्टि आत्मा उस वृक्ष का फल खा रहा है, किन्तु परमात्मा रूप भगवान् दूसरे पक्षी के कार्यों का साक्षी बना रहता है। राज्य का कोई नागरिक राज्य अधिकारी के पर्याप्त निरीक्षण के अभाव में कष्ट में रह सकता है, किन्तु यह कैसे सम्भव है कि राज्य के मुखिया के स्वयं उपस्थित रहने पर एक नागरिक अन्य नागरिकों द्वारा पीड़ित हो? दूसरी दृष्टि से यह समझा जाता है कि जीव गुणात्मक दृष्टि से भगवान् से एक है, अतएव जीवन की शुद्ध अवस्था में विशेष रूप से भगवान् की उपस्थिति में उसका ज्ञान अविद्या द्वारा प्रच्छन्न नहीं हो सकता। तो फिर जीव किस तरह अज्ञान के वशीभूत होता है और माया के प्रभाव से प्रच्छन्न हो जाता है? भगवान् हर जीव के पिता तथा रक्षक हैं और वे भूत-भृत अर्थात् जीवों के पालक कहलाते हैं। तो फिर जीवों को इतने कष्ट तथा दुर्भाग्य क्यों भोगने पड़ते हैं? ऐसा होना नहीं चाहिए, किन्तु वास्तव में हम देखते हैं कि सर्वत्र यही होता है। अतः विदुर ने इस प्रश्न का समाधान चाहा।

एतस्मिन्मे मनो विद्वन्खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे ।

तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥ ७ ॥

## शब्दार्थ

एतस्मिन्—इसमें; मे—मेरा; मनः—मन; विद्वन्—हे विद्वान्; खिद्यते—कष्ट दे रहा है; अज्ञान—अविद्या; सङ्कटे—संकट में; तत्—इसलिए; नः—मेरा; पराणुद—स्पष्ट कीजिये; विभो—हे महान्; कश्मलम्—मोह; मानसम्—मन विषयक; महत्—महान्।

हे महान् एवं विद्वान् पुरुष, मेरा मन इस अज्ञान के संकट द्वारा अत्यधिक मोहग्रस्त है, इसलिए मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप इसको स्पष्ट करें।

तात्पर्य : ऐसा मानसिक मोह, जैसाकि यहाँ पर विदुर द्वारा प्रस्तुत किया गया है, कुछ जीवों के

साथ घटित होता है, किन्तु हर एक के साथ नहीं, क्योंकि यदि हर व्यक्ति मोहित होता तो उच्चतर पुरुषों द्वारा उसके समाधान की कोई सम्भावना न रहती।

श्रीशुक उवाच

स इत्थं चोदितः क्षत्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः ।  
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (मैत्रेय मुनि); इत्थम्—इस प्रकार; चोदितः—विक्षुब्ध किये जाने पर; क्षत्रा—विदुर द्वारा; तत्त्व-जिज्ञासुना—सत्य जानने के लिए पूछताछ करने के इच्छुक व्यक्ति द्वारा, जिज्ञासु द्वारा; मुनिः—मुनि ने; प्रत्याह—उत्तर दिया; भगवत्-चित्तः—ईशभावनाभावित; स्मयन्—आश्चर्य करते हुए; इव—मानो; गत-स्मयः—हिचक के बिना।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह जिज्ञासु विदुर द्वारा विक्षुब्ध किये गये मैत्रेय सर्वप्रथम आश्चर्यचकित प्रतीत हुए, किन्तु इसके बाद उन्होंने बिना किसी हिचक के उन्हें उत्तर दिया, क्योंकि वे पूर्णरूपेण ईशभावनाभावित थे।

तात्पर्य : चूँकि महा-मुनि मैत्रेय ईशभावनाभावित थे, अतएव विदुर द्वारा पूछे गये ऐसे परस्पर विरोधी प्रश्नों से उनके आश्चर्यचकित होने का कोई कारण न था। इसीलिए भक्त रूप में ऊपर से आश्चर्य व्यक्त करते हुए भी मानो वे यह न जानते हों कि इन प्रश्नों का कैसे उत्तर दिया जाय वे तुरन्त पूर्णतया स्थिरचित्त हो गये और उचित रीति से विदुर को उत्तर देने लगे। यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति। जो भी व्यक्ति भगवद्भक्त होता है, वह कुछ हद तक भगवान् के विषय में जानता है और भगवद्भक्ति उसे भगवत्कृपा से हर बात को समझने में समर्थ बनाती है। यद्यपि भक्त ऊपर से अपने को अज्ञानी व्यक्त करता है, किन्तु वह प्रत्येक जटिल विषय का पूर्ण ज्ञान रखता है।

मैत्रेय उवाच

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।  
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सा इयम्—ऐसा कथन; भगवतः—भगवान् की; माया—माया; यत्—जो; नयेन—तर्क द्वारा; विरुध्यते—विरोधी बन जाता है; ईश्वरस्य—भगवान् का; विमुक्तस्य—नित्य मुक्त का; कार्पण्यम्—अपर्याप्तता; उत—क्या कहा जाय, जैसा भी; बन्धनम्—बन्धन।

श्री मैत्रेय ने कहा : कुछ बद्धजीव यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि परब्रह्म या भगवान् को

माया द्वारा जीता जा सकता है, किन्तु साथ ही उनका यह भी मानना है कि वे अबद्ध हैं। यह समस्त तर्क के विपरित है।

**तात्पर्य :** कभी-कभी ऐसा लगता है कि भगवान् जो कि शत-प्रतिशत आध्यात्मिक हैं, उस मायाशक्ति के कारणस्वरूप नहीं हो सकते जो व्यष्टि आत्मा के ज्ञान को प्रच्छन्न कर देती है। किन्तु वास्तव में इसमें कोई सन्देह नहीं कि माया या बहिरंगा शक्ति भी भगवान् का अंश है। जब व्यासदेव ने भगवान् का साक्षात्कार किया, तो उन्होंने भगवान् को अपनी बहिरंगा शक्ति के साथ देखा जो व्यष्टि जीवों के शुद्ध ज्ञान को आवृत करती है। बहिरंगा शक्ति इस तरह क्यों कर्म करती है? इस पर निम्नवत् विचार किया जा सकता है, जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर तथा श्रील जीव गोस्वामी जैसे महान् टीकाकारों ने विश्लेषण किया है। यद्यपि भौतिक माया शक्ति आध्यात्मिक शक्ति से पृथक् होती है तथापि यह भगवान् की अनेक शक्तियों में से एक है और इस तरह प्रकृति के भौतिक गुण निश्चय ही, भगवान् के ही गुण हैं। शक्ति तथा शक्तिमान भगवान् पृथक्-पृथक् नहीं हैं। यद्यपि ऐसी शक्ति भगवान् के साथ एकाकार रहती है, किन्तु वे इससे कभी भी वशीभूत नहीं होते। यद्यपि सारे जीव भी भगवान् के विभिन्नांश हैं, किन्तु वे भौतिक शक्ति द्वारा पराजित हो जाते हैं। भगवान् का अचिन्त्य *योगमैश्वरम्*, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* (९.५) में हुआ है कूपमंडूक दार्शनिकों द्वारा ठीक से नहीं समझा जाता। वे इस सिद्धान्त के समर्थन में कि नारायण (स्वयं भगवान्) *दरिद्रनारायण* बनते हैं, यह प्रस्ताव रखते हैं कि भौतिक शक्ति परमेश्वर को पराजित करती है। किन्तु श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसकी व्याख्या में एक अति सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि यद्यपि सूर्य सर्वतः प्रकाश देता है, किन्तु बादल, अँधेरा तथा हिमपात ये सभी सूर्य के विभिन्नांश हैं। सूर्य के बिना बादलों या अंधकार से आकाश के आच्छादित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती, न ही पृथ्वी पर हिमपात हो सकता है। यद्यपि सूर्य द्वारा जीवन का पालन होता है, किन्तु सूर्य द्वारा उत्पन्न अंधकार तथा हिमपात से जीवन विचलित भी होता है। किन्तु यह भी तथ्य है कि सूर्य स्वयं कभी भी अंधकार, बादल या हिमपात से पराजित नहीं होता। सूर्य ऐसे उपद्रवों से बहुत दूर रहता है। जो अल्पज्ञानी हैं, वे ही कहते हैं कि सूर्य बादल से या अंधकार से ढक जाता है। इसी तरह परब्रह्म भगवान् सदैव भौतिक शक्ति के प्रभाव से अप्रभावित रहते हैं यद्यपि यह उनकी शक्तियों में से एक है। ( *परास्य शक्तिर्विविधैव*



श्रूयते)

अतः माया द्वारा परब्रह्म के पराजित होने पर बल देने का कोई कारण नहीं है। बादल, अंधकार तथा हिमपात सूर्य की किरणों के एक नगण्य अंश को ही ढक सकते हैं। इसी तरह प्रकृति के गुण किरणों के सदृश जीवों पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं। यह जीव का दुर्भाग्य है, जो अकारण नहीं है, कि भौतिक शक्ति उसकी शुद्ध चेतना तथा नित्य आनन्द पर प्रभाव डालती है। शुद्ध चेतना तथा नित्य आनन्द का इस तरह प्रच्छन्न होना *अविद्याकर्मसंज्ञा* के कारण है—वह शक्ति जो उन सूक्ष्म जीवों पर प्रभाव डालती है, जो अपनी अल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं। *विष्णुपुराण*, *भगवद्गीता* तथा अन्य समस्त वैदिक ग्रन्थों के अनुसार सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं और इस तरह वे सभी सदैव भगवान् की शक्ति होते हैं, शक्तिमान नहीं। सारे जीव सूर्य की किरणों के समान हैं। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, यद्यपि सूर्य तथा उसकी किरणों में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है, किन्तु कभी-कभी सूर्य की किरणें सूर्य की अन्य शक्ति, जिसका नाम बादल या हिमपात है, द्वारा पराजित हो जाती हैं। इसी तरह यद्यपि जीव गुणात्मक रूप से भगवान् की पराशक्ति के साथ एक हैं, किन्तु उनमें कनिष्ठा भौतिक शक्ति द्वारा पराजित होने की प्रवृत्ति होती है। वैदिक स्तोत्रों में कहा गया है कि सारे जीव अग्नि के स्फुलिंगों जैसे हैं। अग्नि के स्फुलिंग भी अग्नि होते हैं, किन्तु स्फुलिंगों की ज्वलन शक्ति मूल अग्नि से भिन्न होती है। जब स्फुलिंग मूल अग्नि से सम्पर्क तोड़ कर बाहर उड़ जाते हैं, तो वे अग्निविहीन वायुमण्डल से प्रभावित होते हैं। इस तरह वे स्फुलिंग के रूप में अग्नि के साथ अपनी शक्ति बनाये रखते हैं, किन्तु मूल अग्नि के रूप में नहीं। ये स्फुलिंग मूल अग्नि के भीतर शाश्वत रीति से उसके भिन्नांश के रूप में रह सकते हैं, किन्तु जिस क्षण ये स्फुलिंग मूल अग्नि से पृथक् हो जाते हैं तभी उनके दुर्भाग्य तथा कष्ट प्रारम्भ होते हैं। स्पष्ट निष्कर्ष यह निकला कि भगवान्, जो कि मूल अग्नि हैं, कभी पराजित नहीं होते, किन्तु अग्नि के सूक्ष्म स्फुलिंग माया के मोहक प्रभाव द्वारा पराजित हो सकते हैं। यह कहना अत्यन्त हास्यास्पद तर्क है कि भगवान् अपनी ही भौतिक शक्ति द्वारा पराजित होते हैं। भगवान् भौतिक शक्ति के स्वामी हैं, किन्तु जीव बद्ध अवस्था में भौतिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। यह *भगवद्गीता* का कथन है। वे कूपमण्डूक दार्शनिक जो यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भगवान् सतोगुण द्वारा पराजित हो जाते हैं, वे स्वयं ही उसी भौतिक शक्ति द्वारा विमोहित रहते हैं,

यद्यपि वे अपने आपको मुक्तात्माएँ मानते हैं। वे अपने तर्कों के समर्थन में मिथ्या तथा श्रमसाध्य वाग्जाल प्रस्तुत करते हैं, जो कि भगवान् की उसी मोहनी शक्ति का उपहार है। किन्तु बेचारे कूपमण्डूक दार्शनिक ज्ञान के मिथ्या विचार के कारण इस स्थिति को समझ नहीं सकते।

श्रीमद्भागवत (६.९.३४) में कहा गया है—

दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यद् अशरणोऽशरीर

इदम्अन्वेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणम्

अगुणः सृजसि पासि हरसि

इस तरह देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना की कि यद्यपि उनके कार्यकलापों को समझ पाना अतीव कठिन है, किन्तु जो लोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निष्ठापूर्वक लगे हुए हैं, वे उन्हें कुछ-कुछ समझ सकते हैं। देवताओं ने स्वीकार किया कि यद्यपि भगवान् भौतिक प्रभाव या सृष्टि से पृथक् हैं, तो भी वे देवताओं के माध्यम से पूर्ण विराट जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः ।

प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥ १० ॥

#### शब्दार्थ

यत्—इस प्रकार; अर्थेन—अभिप्राय या अर्थ; विना—बिना; अमुष्य—ऐसे; पुंसः—जीव का; आत्म-विपर्ययः—आत्म-पहचान के विषय में विभ्रमित; प्रतीयते—ऐसा लगता है; उपद्रष्टुः—उथले द्रष्टा का; स्व-शिरः—अपना सिर; छेदन-आदिकः—काट लेना।

जीव अपनी आत्म-पहचान के विषय में संकट में रहता है। उसके पास वास्तविक पृष्ठभूमि नहीं होती, ठीक उसी तरह जैसे स्वप्न देखने वाला व्यक्ति यह देखे कि उसका सिर काट लिया गया है।

तात्पर्य : एक बार पाठशाला में एक शिक्षक ने अपने शिष्य को धमकाया कि वह उसका सिर काट कर दीवाल पर टाँग देगा जिससे बालक यह देख सके कि उसका सिर किस तरह काट लिया गया है। वह बालक डर गया और उसने शैतानी करनी बन्द कर दी। इसी तरह शुद्ध आत्मा के कष्ट तथा उसकी आत्म-पहचान का व्यवधान भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा ही नियंत्रित होते हैं। यह शक्ति उन शैतान जीवों को नियंत्रित करती है, जो भगवान् की इच्छा के विरुद्ध जाना चाहते हैं। वस्तुतः जीव के

लिए न तो कोई बन्धन है, न कष्ट, न ही वह कभी अपनी शुद्ध चेतना गँवाता है। अपनी शुद्ध चेतना में जब भी वह अपनी स्थिति के विषय में कुछ गम्भीरता से सोचता है, तो उसकी समझ में आ सकता है कि वह सदैव परमेश्वर की कृपा पर आश्रित है और परमेश्वर से एकाकार होने का उसका प्रयास मिथ्या मोह है। जीव जन्म-जन्मांतर में भौतिक प्रकृति पर मिथ्या ही प्रभुत्व जताने का और भौतिक जगत का प्रभु बनने का प्रयास करता है। उसे कोई ठोस फल हाथ नहीं लगता। अन्त में जब वह हताश हो जाता है, तो वह अपने भौतिक कार्यकलापों को त्याग देता है और भगवान् से एकाकार होने का तथा वाग्जाल द्वारा चिन्तन करने का प्रयास करता है, किन्तु इसमें भी उसे सफलता नहीं मिलती।

ये सारे कार्य माया-शक्ति के आदेशानुसार सम्पन्न किये जाते हैं। इस अनुभव की तुलना स्वप्न में किसी मनुष्य द्वारा अपना सिर काटे जाने के अनुभव से की गई है। जिस व्यक्ति का सिर काटा जाता है, वह भी देखता है कि उसका सिर काट लिया गया है। यदि किसी मनुष्य का सिर काट लिया जाय तो वह देखने की शक्ति खो देता है। अतएव यदि कोई मनुष्य यह देखता है कि उसका सिर काट लिया गया तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसने उसी तरह सोचा है जैसाकि व्यामोह में। इसी तरह शाश्वत रूप से जीव परमेश्वर के अधीन होता है और यह ज्ञान उसके पास रहता है, किन्तु वह कृत्रिम रूप से सोचता है कि वह स्वयं ईश्वर है और यद्यपि वह ईश्वर है, तथापि माया के कारण वह अपना ज्ञान खो चुका है। इस विचारधारा का कोई अर्थ नहीं है, जिस तरह अपने सिर को कटता हुआ देखने का कोई अर्थ नहीं है। यही प्रक्रिया है, जिस से ज्ञान ढका रहता है। चूँकि जीव की यह कृत्रिम विद्रोही दशा उसे सारे कष्ट प्रदान करती है, अतः यह समझना चाहिए कि उसे भगवद्भक्त के रूप में अपना सामान्य जीवन ग्रहण करना है और ईश्वर होने की भ्रान्त धारणा से मुक्त होना है। अपने को ईश्वर सोचने की तथाकथित मुक्ति *अविद्या* का अन्तिम प्रतिफल है, जिससे जीव पाश में बँधता है। निष्कर्ष यह है कि भगवान् की नित्य दिव्य सेवा से वंचित जीव कई प्रकार से मोहग्रस्त होता है। अपने बद्धजीवन तक में वह भगवान् का नित्य दास रहता है। मोहिनी माया के पाश के अन्तर्गत उसकी दासता भी उसकी नित्य सेवा-दशा की अभिव्यक्ति है। चूँकि उसने भगवान् की सेवा के विरुद्ध विद्रोह किया है, इसीलिए उसे माया की सेवा में रखा जाता है। वह तब भी सेवा करता है, किन्तु विकृत रीति से। जब वह भौतिक बन्धन के अन्तर्गत सेवा से बाहर होना चाहता है, तो उसके बाद वह भगवान् से एकाकार होना चाहता है। यह

दूसरा मोह है। इसलिए सबसे अच्छा मार्ग भगवान् की शरण ग्रहण करना है और इस तरह हमेशा के लिए माया से छुटकारा पाना है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता (७.१४) में हुई है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतांतरन्ति ते ॥

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः ।

दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥ ११ ॥

#### शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; जले—जल में; चन्द्रमसः—चन्द्रमा का; कम्प-आदिः—कम्पन इत्यादि.; तत्-कृतः—जल द्वारा किया गया; गुणः—गुण; दृश्यते—इस तरह दिखता है; असन् अपि—बिना अस्तित्व के; द्रष्टुः—द्रष्टा का; आत्मनः—आत्मा का; अनात्मनः—आत्मा के अतिरिक्त अन्य का; गुणः—गुण।

जिस तरह जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जल के गुण से सम्बद्ध होने के कारण देखने वाले को हिलता हुआ प्रतीत होता है उसी तरह पदार्थ से सम्बद्ध आत्मा पदार्थ के ही समान प्रतीत होता है।

तात्पर्य : परमात्मा या भगवान् की तुलना आकाश में चन्द्रमा से की गई है और जीवों की तुलना जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से की गई है चन्द्रमा आकाश में स्थिर है और वह जल में दिखने वाले चन्द्रमा की तरह हिलता-डुलता नहीं। वस्तुतः आकाश में मूल चन्द्रमा की तरह जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को काँपना या हिलना नहीं चाहिए, किन्तु जल से सम्बद्ध होने से प्रतिबिम्ब हिलता हुआ प्रतीत होता है, यद्यपि वास्तव में चन्द्रमा स्थिर है। जल चलता है, किन्तु चन्द्रमा नहीं चलता। इसी तरह सारे जीव मोह, शोक तथा कष्ट जैसे भौतिक गुणों से कलुषित प्रतीत होते हैं, यद्यपि शुद्ध आत्मा में ऐसे गुण सर्वथा अनुपस्थित होते हैं। प्रतीयते शब्द यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है “ऊपर से” तथा “वास्तविक रूप में नहीं” (स्वप्न में अपना सिर कटने के अनुभव की तरह) जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चन्द्रमा की वियुक्त किरणें होती हैं, वास्तविक चन्द्रमा नहीं। भगवान् के वियुक्त भिन्नांश भौतिक जगत रूपी जल में उलझ कर चलायमान गुण वाले होते हैं, जबकि भगवान् आकाश में स्थित चन्द्रमा के तुल्य है, जो जल से किसी प्रकार भी स्पर्श में नहीं आता है। सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश पदार्थ से परावर्तित होकर उसे चमकीला तथा प्रशंसा के योग्य बनाता है। जीवित लक्षणों की तुलना

वृक्षों तथा पर्वतों जैसे भौतिक रूपों को प्रकाशित करने वाले सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रकाश से की जाती है। सूर्य या चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को अल्पज्ञानी असली सूर्य या चन्द्रमा मान बैठता है और शुद्ध अद्वैत दर्शन इन्हीं विचारों से उपजता है। वस्तुतः सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश स्वयं सूर्य तथा चन्द्रमा से भिन्न है, यद्यपि उनमें सदा सम्बन्ध बना रहता है। आकाश भर में फैली हुई चाँदनी निर्विशेष प्रतीत होती है, किन्तु चन्द्रलोक, जिस रूप में वह है, साकार है और चन्द्रलोक में रहने वाले जीव भी साकार हैं। चन्द्रमा की किरणों में विभिन्न भौतिक वस्तुएँ कम या अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। ताजमहल पर चन्द्रमा का प्रकाश (चाँदनी) निर्जन स्थान में उसी प्रकाश की अपेक्षा अधिक सुन्दर लगता है। यद्यपि चन्द्रमा का प्रकाश सर्वत्र वही रहता है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार से निखरने से वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इसी तरह भगवान् का प्रकाश सर्वत्र एकसमान वितरित है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण किये जाने के कारण वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इसलिए जल पर चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को वास्तविक नहीं मानना चाहिए और सम्पूर्ण स्थिति को अद्वैतवाद दर्शन के माध्यम से समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। चन्द्रमा का हिलने-डुलने (कम्पन) का गुण भी परिवर्तनशील है। जब जल स्थिर रहता है, तो कम्पन भी नहीं होता। अधिक स्थिर बद्ध आत्मा में कम कम्पन होता है, किन्तु भौतिक सम्बन्ध होने से यह कम्पन का गुण न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र विद्यमान रहता है।

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।

भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥ १२ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह; वै—भी; निवृत्ति—विरक्ति; धर्मेण—संलग्न रहने से; वासुदेव—भगवान् की; अनुकम्पया—कृपा से; भगवत्—भगवान् के सम्बन्ध में; भक्ति-योगेन—जुड़ने से; तिरोधत्ते—कम होती है; शनैः—क्रमशः; इह—इस संसार में।

किन्तु आत्म-पहचान की उस भ्रान्ति को भगवान् वासुदेव की कृपा से विरक्त भाव से भगवान् की भक्तिमय सेवा की विधि के माध्यम से धीरे-धीरे कम किया जा सकता है।

तात्पर्य : संसार का कम्पन गुण जो पदार्थ के साथ अपनी पहचान करने या दार्शनिक चिन्तन के भौतिक प्रभाव में आकर अपने को ईश्वर समझने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, उसे भगवान् वासुदेव की कृपा से भगवद्भक्ति द्वारा समूल नष्ट किया जा सकता है। जैसी कि प्रथम स्कन्ध में व्याख्या की गई है, चूँकि भगवान् वासुदेव की भक्ति करने से शुद्ध ज्ञान को बुलावा दिया जाता है, अतः यह मनुष्य को

देहात्मबुद्धि से तुरन्त विलग करके सामान्य आध्यात्मिक स्थिति में, इसी जीवन में भी, ला देती है और मनुष्य को उन भौतिक हवाओं से मुक्त कर देती है, जो उसे कँपाती है। भक्ति का ज्ञान ही मनुष्य को मुक्ति के मार्ग तक ऊपर उठाता है। भक्ति किये बिना हर वस्तु को जानने के उद्देश्य से ज्ञान का विकास निष्फल प्रयास माना जाता है और मनुष्य को ऐसे प्रेम रूपी श्रम से वांछित फल नहीं मिल सकता। भगवान् वासुदेव एकमात्र भक्तिमय सेवा से प्रसन्न होते हैं और इस प्रकार उनकी कृपा की अनुभूति भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से ही सम्भव है। भगवान् के शुद्ध भक्त उन समस्त भौतिक इच्छाओं से परे हैं, जिनमें सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन के फल सम्मिलित हैं। यदि कोई व्यक्ति भगवान् की कृपा प्राप्त करना चाहता है, तो उसे शुद्ध भक्तों की संगति करनी होती है। ऐसी संगति ही मनुष्य को क्रमशः भ्रमित करने वाले तत्त्वों से छुटकारा दिला सकती है।

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्टात्मनि परे हरौ ।

विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; उपरामः—तृप्त; अथ—इस प्रकार; द्रष्टृ-आत्मनि—द्रष्टा या परमात्मा के प्रति; परे—अध्यात्म में; हरौ—भगवान् में; विलीयन्ते—लीन हो जाती है; तदा—उस समय; क्लेशाः—कष्ट; संसुप्तस्य—गहरी नींद का भोग कर चुका व्यक्ति; इव—सदृश; कृत्स्नशः—पूर्णतया।

जब इन्द्रियाँ द्रष्टा-परमात्मा अर्थात् भगवान् में तुष्ट हो जाती है और उनमें विलीन हो जाती है, तो सारे कष्ट उसी तरह पूर्णतया दूर हो जाते हैं जिस तरह ये गहरी नींद के बाद दूर हो जाते हैं।

तात्पर्य : जीव का कम्पन (चंचलता), जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, इन्द्रियों के कारण होता है। चूँकि सम्पूर्ण भौतिक जगत इन्द्रिय-तृप्ति के निमित्त है, अतः इन्द्रियाँ ही भौतिक कर्मों की माध्यम होती हैं और वे निश्चल आत्मा में कम्पन उत्पन्न करती हैं। अतएव इन इन्द्रियों को ऐसे समस्त भौतिक कार्यों से विरक्त करना होगा। निर्विशेषवादियों के अनुसार आत्मा को परमात्मा ब्रह्म में लीन करके इन्द्रियों को कार्य करने से रोका जाता है। किन्तु भक्तगण भौतिक इन्द्रियों को कार्य करने से रोकते नहीं, अपितु वे अपनी दिव्य इन्द्रियों को ब्रह्म या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सेवा में लगाते हैं। दोनों ही दशाओं में ज्ञान के अनुशीलन द्वारा भौतिक क्षेत्र में इन्द्रियों के कार्यों को रोकना चाहिए और, सम्भव हो, तो उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। इन्द्रियों का स्वभाव दिव्य है, किन्तु पदार्थ द्वारा

कलुषित होने पर उनके कार्य दूषित हो जाते हैं। हमें इन्द्रियों को भवरोग से छुटकारा दिलाने के लिए उनका उपचार करना पड़ता है, उन्हें कार्य करने से रोकना नहीं होता जैसाकि निर्विशेषवादियों का सुझाव है। *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है कि मनुष्य तभी सारा भौतिक कार्य बन्द करता है जब वह किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगने से तुष्ट हो जाता है। चेतना स्वभावतः सक्रिय होती है और काम करने से उसे रोका नहीं जा सकता। उत्पाती बालक को कृत्रिम ढंग से रोकना वास्तविक उपचार नहीं है। उस बालक को किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगाना चाहिए जिससे वह स्वतः उपद्रव करना बन्द कर दे। उसी तरह इन्द्रियों की उपद्रवी गतिविधियों को उन्हें भगवान् से सम्बन्धित अच्छे कार्य में प्रवृत्त करके ही रोका जा सकता है। जब आँख भगवान् के सुन्दर रूप को देखने, जीभ प्रसाद का आस्वाद करने, कान उनकी महिमा को सुनने, हाथ भगवान् का मन्दिर बुहारने, पाँव उनके मन्दिरों तक जाने में व्यस्त रहेंगे अर्थात् जब सारी इन्द्रियाँ विविध दिव्य कर्मों में लगी रहेंगी तभी दिव्य इन्द्रियाँ तृप्त हो सकेंगी और भौतिक कार्य से शाश्वत रूप से मुक्त हो जाएँगी। परमात्मा रूप में हर एक के हृदय के भीतर वास करने वाले या भौतिक सृष्टि से परे दिव्य जगत में स्थित रहने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हमारे सारे कार्यों के द्रष्टा हैं। हमारे कार्यों को इस तरह से संतृप्त होना चाहिए कि भगवान् हम पर कृपादृष्टि डालें और हमें अपनी दिव्य सेवा में लगा लें। तभी इन्द्रियाँ पूर्णतया तुष्ट हो सकती हैं और भौतिक आकर्षण द्वारा फिर कभी सतायी नहीं जाएँगी।

अशेषसङ्कलेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।

किं वा पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा ॥ १४ ॥

#### शब्दार्थ

अशेष—असीम; सङ्कलेश—कष्टमय स्थिति; शमम्—शमन; विधत्ते—सम्पन्न कर सकता है; गुण-अनुवाद—दिव्य नाम, रूप, गुण, लीला, पार्श्व तथा साज-सामग्री इत्यादि का.; श्रवणम्—सुनना तथा कीर्तन करना; मुरारेः—मुरारी ( श्रीकृष्ण ) का; किम् वा—और अधिक क्या कहा जाय; पुनः—फिर; तत्—उसके; चरण-अरविन्द—चरणकमल; पराग-सेवा—सुगंधित धूल की सेवा के लिए; रतिः—आकर्षण; आत्म-लब्धा—जिन्होंने ऐसी आत्म-उपलब्धि प्राप्त कर ली है।

भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य नाम, रूप इत्यादि के कीर्तन तथा श्रवण मात्र से मनुष्य की असीम कष्टप्रद अवस्थाएँ शमित हो सकती हैं। अतएव उनके विषय में क्या कहा जाये, जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की धूल की सुगंध की सेवा करने के लिए आकर्षण प्राप्त कर लिया हो?

**तात्पर्य :** वैदिक शास्त्रीय विद्या में भौतिक इन्द्रियों को वश में करने की दो अलग-अलग विधियों की संस्तुति की गई है। इनमें से एक ज्ञानयोग है अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा, तथा भगवान् के दार्शनिक ज्ञान का मार्ग। दूसरी विधि है भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति रुपी सेवा में जुट जाना। इन दो अत्यन्त लोकप्रिय विधियों में से यहाँ पर भक्ति मय सेवा के मार्ग को सर्वोत्तम कह कर संस्तुत किया गया है, क्योंकि जो भक्तिमार्ग पर चलता है उसे पुण्यकर्मों के सकाम फल के लिए या ज्ञान के परिणामों के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। भक्ति सम्पन्न करने की दो अवस्थाएँ हैं। पहली: मान्य शास्त्रों के नियमानुसार अपनी वर्तमान इन्द्रियों द्वारा भक्ति का अभ्यास करने की अवस्था तथा दूसरी: भगवान् के चरणकमलों की धूलि के कणों की सेवा करने के लिए निष्ठावान अनुरक्ति प्राप्त करना। प्रथम अवस्था *साधन भक्ति* कहलाती है, जो नव-जिज्ञासुओं द्वारा की जाने वाली भक्ति है और किसी शुद्ध भक्त के निर्देशन में सम्पन्न की जाती है। दूसरी अवस्था *राग भक्ति* है, जिसमें परिपक्व (प्रौढ़) भक्त निष्ठापूर्ण अनुराग के कारण स्वतः भगवान् की विविध सेवाओं में लगा रहता है। अब महर्षि मैत्रेय विदुर के सारे प्रश्नों का अन्तिम उत्तर इस तरह दे रहे हैं: भगवान् की भक्ति संसार की समस्त कष्टप्रद दशाओं को कम करने का चरम साधन है। उद्देश्य की पूर्ति हेतु ज्ञानमार्ग या योगिक आसनों को अपनाया जा सकता है, किन्तु *भक्ति* से मिश्रित किये बिना ये वाञ्छित फल दिलाने में अक्षम है। साधन भक्ति के अभ्यास से मनुष्य धीरे-धीरे रागभक्ति तक उठ सकता है। दिव्य *प्रेमाभक्ति* में *रागभक्ति* सम्पन्न करके वह परम शक्तिशाली भगवान् को भी अपने वश में कर सकता है।

विदुर उवाच

सञ्छिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो ।  
उभयत्रापि भगवन्मनो मे सम्प्रधावति ॥ १५ ॥

**शब्दार्थ**

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सञ्छिन्नः—कटे हुए; संशयः—सन्देह; मह्यम्—मेरे; तव—तुम्हारे; सूक्त-असिना—विश्वसनीय शब्द रूपी हथियार से; विभो—हे प्रभु; उभयत्र अपि—ईश्वर तथा जीव दोनों में; भगवन्—हे शक्तिमान; मनः—मन; मे—मेरा; सम्प्रधावति—पूरी तरह प्रवेश करता है।

विदुर ने कहा : हे शक्तिशाली मुनि, मेरे प्रभु, आपके विश्वसनीय शब्दों से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा जीवों से सम्बन्धित मेरे सारे संशय अब दूर हो गये हैं। अब मेरा मन पूरी तरह से उनमें प्रवेश कर रहा है।



**तात्पर्य :** कृष्ण-विज्ञान या ईश तथा जीवों का विज्ञान इतना सूक्ष्म है कि विदुर जैसे व्यक्ति को भी मैत्रेय मुनि जैसे महापुरुष से परामर्श करना पड़ता है। भगवान् तथा जीव के नित्य सम्बन्ध के विषय में मानसिक चिन्तन करने वाले लोग तरह तरह से सन्देह उत्पन्न करते हैं, किन्तु निर्णायक तथ्य यह है कि ईश्वर तथा जीव का सम्बन्ध स्वामी (सेव्य) तथा सेवक का सम्बन्ध है। भगवान् नित्य स्वामी हैं और जीव नित्य दास है। इस सम्बन्ध का असली ज्ञान इस लुप्त चेतना को इस स्तर तक पुनरुज्जीवित करना है और इस पुनरुज्जीवन की विधि है भगवान् की भक्ति। इस तरह से मैत्रेय मुनि जैसे अधिकारियों से स्पष्ट रूप से जान लेने पर मनुष्य असली ज्ञान को प्राप्त होता है और इस तरह विक्षुब्ध मन को प्रगति के पथ पर स्थिर किया जा सकता है।

**साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः ।**

**आभात्यपार्थ निर्मूलं विश्वमूलं न यद्वहिः ॥ १६ ॥**

#### शब्दार्थ

साधु—उतनी अच्छी जितनी कि होनी चाहिए; एतत्—ये सारी व्याख्याएँ; व्याहृतम्—इस तरह कही गई; विद्वन्—हे विद्वान्; न—नहीं; आत्म—आत्मा; माया—शक्ति; अयनम्—गति; हरेः—भगवान् की; आभाति—प्रकट होती है; अपार्थम्—बिना अर्थ के, निरर्थक; निर्मूलम्—बिना किसी आधार के, निराधार; विश्व-मूलम्—भगवान् जिसका उद्गम है; न—नहीं; यत्—जो; बहिः—बाहरी।

हे विद्वान् महर्षि, आपकी व्याख्याएँ अति उत्तम हैं जैसी कि उन्हें होना चाहिए। बद्धजीव के विक्षोभों का आधार भगवान् की बहिरंगा शक्ति की गतिविधि के अलावा कुछ भी नहीं।

**तात्पर्य :** जीव की ईश्वर से हर तरह से तदाकार होने की अवैध इच्छा ही सम्पूर्ण भौतिक जगत का मूल कारण है, अन्यथा ईश्वर को ऐसा जगत उत्पन्न करने की, यहाँ तक कि अपनी लीलाओं के लिए भी, कोई आवश्यकता न होती। बद्धजीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति के वशीभूत होकर भौतिक जीवन में अनेक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं को भोगता है। भगवान् बहिरंगा शक्ति माया के स्वामी हैं और जीव भौतिक दशा के अन्तर्गत उसी माया के अधीन रहता है। जीव द्वारा भगवान् के स्वामी पद को प्राप्त करने का मिथ्या प्रयास ही उसके भौतिक बन्धन का कारण है और बद्धजीव का भगवान् के साथ तदाकार होने का प्रयास माया का अन्तिम पाश है।

**यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।**

तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ १७ ॥

**शब्दार्थ**

यः—जो; च—भी; मूढ-तमः—निकृष्टतम मूर्ख; लोके—संसार में; यः च—तथा जो; बुद्धेः—बुद्धि का; परम्—दिव्य; गतः—गया हुआ; तौ—उन; उभौ—दोनों; सुखम्—सुख; एधेते—भोगते हैं; क्लिश्यति—कष्ट पाते हैं; अन्तरितः—बीच में स्थित; जनः—लोग।

निकृष्टतम मूर्ख तथा समस्त बुद्धि के परे रहने वाले दोनों ही सुख भोगते हैं, जबकि उनके बीच के व्यक्ति भौतिक क्लेश पाते हैं।

तात्पर्य : निकृष्टतम मूर्ख भौतिक क्लेशों को नहीं समझते। वे हँसी-खुशी के साथ अपना जीवन बिताते हैं और जीवन के क्लेशों के विषय में जिज्ञासा नहीं करते। ऐसे लोग लगभग पशुओं के स्तर पर होते हैं, जो भौतिक क्लेशों से अवगत नहीं रहते, यद्यपि श्रेष्ठजनों की नजरों में वे सदैव दुखी रहते हैं। शूकर का जीवन सुख के मानदण्ड के अनुसार गिरा हुआ है, क्योंकि इसमें गन्दे स्थान में रहना, किसी भी क्षण संभोग में रत रहना और जीवन-संघर्ष के लिए कठिन श्रम करना होता है, किन्तु शूकर को यह ज्ञात नहीं है। इसी तरह जो मनुष्य भौतिक जगत के कष्ट से अवगत नहीं होते तथा यौन जीवन और कठिन श्रम में सुखी रहते हैं, वे निकृष्टतम मूर्ख हैं। फिर भी चूँकि उन्हें कष्टों का कोई ज्ञान नहीं होता है वे तथाकथित सुख को भोगते प्रतीत होते हैं। अन्य श्रेणी के लोग, जो कि मुक्त हैं तथा बुद्धि से ऊपर दिव्य पद पर स्थित हैं वास्तव में सुखी हैं और परमहंस कहलाते हैं। किन्तु वे लोग, जो न तो कूकरों-सूकरों की तरह हैं और न ही परमहंस के स्तर पर हैं भौतिक क्लेशों का अनुभव करते हैं और उनके लिए परम सत्य विषयक जिज्ञासा आवश्यक है। वेदान्त सूत्र का कथन है—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—अब मनुष्य को ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। यह जिज्ञासा उन लोगों के लिए आवश्यक है, जो परमहंसों तथा उन मूर्खों के बीच के हैं जिन्होंने इन्द्रियतृप्ति वाले जीवन के बीच में आत्म-साक्षात्कार के प्रश्न को भुला दिया है।

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः ।

तां चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे ॥ १८ ॥

**शब्दार्थ**

अर्थ-अभावम्—बिना सार के; विनिश्चित्य—सुनिश्चित करके; प्रतीतस्य—बाह्य मूल्यों का; अपि—भी; न—कभी नहीं; आत्मनः—आत्मा का; ताम्—उसे; च—भी; अपि—इस तरह; युष्मत्—तुम्हारे; चरण—पाँव की; सेवया—सेवाद्वारा; अहम्—मैं; पराणुदे—त्याग सकूँगा।

किन्तु हे महोदय, मैं आपका कृतज्ञ हूँ, क्योंकि अब मैं समझ सकता हूँ कि यह भौतिक

जगत साररहित है यद्यपि यह वास्तविक प्रतीत होता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके चरणों की सेवा करने से मेरे लिए इस मिथ्या विचार को त्याग सकना सम्भव हो सकेगा।

तात्पर्य : बद्धजीव के कष्ट सतही होते हैं और उनका कोई वास्तविक महत्त्व नहीं होता जिस तरह स्वप्न में किसी के सिर को काटने का कोई महत्त्व नहीं होता। यद्यपि यह कथन सिद्धान्त रूप में अतिसत्य है फिर भी सामान्य व्यक्ति या आध्यात्मिक पथ के नवजिज्ञासु के लिए इसकी अनुभूति कर पाना अतीव कठिन है। किन्तु मैत्रेय मुनि जैसे महान् ब्रह्मवादियों के चरणों की सेवा करने से तथा उनकी निरन्तर संगति करने से मनुष्य इस मिथ्या विचार को त्याग सकता है कि आत्मा को भौतिक क्लेश भोगना पड़ता है।

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।

रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

यत्—जिसको; सेवया—सेवा द्वारा; भगवतः—भगवान् का; कूट-स्थस्य—अपरिवर्तनीय का; मधु-द्विषः—मधु असुर का शत्रु; रति-रासः—विभिन्न सम्बन्धों में अनुरक्ति; भवेत्—उत्पन्न होती है; तीव्रः—अत्यन्त भावपूर्ण; पादयोः—चरणों की; व्यसन—क्लेश; अर्दनः—नष्ट करनेवाले।

गुरु के चरणों की सेवा करने से मनुष्य उन भगवान् की सेवा में दिव्य भावानुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जो मधु असुर के कूटस्थ शत्रु हैं और जिनकी सेवा से मनुष्य के भौतिक क्लेश दूर हो जाते हैं।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि जैसे प्रामाणिक गुरु की संगति भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा के लिए दिव्य आसक्ति प्राप्त करने में परम सहायक हो सकती है। भगवान् मधु असुर के शत्रु हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में अपने शुद्ध भक्त के कष्टों के शत्रु हैं। इस श्लोक में रति रासः शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् की सेवा विभिन्न दिव्य रसों (सम्बन्धों) शान्त, वीर, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य में की जाती है। भगवान् की दिव्य सेवा के मुक्त पद पर स्थित जीव उपर्युक्त रसों में से किसी एक रस के प्रति आकृष्ट होता है और जब यह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है, तो भौतिक जगत से उसकी अनुरक्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। जैसाकि भगवद्गीता (२.५९) में कहा गया है—*रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।*

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।  
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥ २० ॥

### शब्दार्थ

दुरापा—दुर्लभ; हि—निश्चय ही; अल्प-तपसः—अल्प तपस्या वाले की; सेवा—सेवा; वैकुण्ठ—ईश्वर के धाम के; वर्त्मसु—मार्ग पर; यत्र—जिसमें; उपगीयते—महिमा गाई जाती है; नित्यम्—सदैव; देव—देवताओं के; देवः—स्वामी; जन-अर्दनः—जीवों के नियन्ता।

जिन लोगों की तपस्या अत्यल्प है वे उन शुद्ध भक्तों की सेवा नहीं कर पाते हैं जो भगवद्धाम अर्थात् वैकुण्ठ के मार्ग पर अग्रसर हो रहे होते हैं। शुद्धभक्त शत प्रतिशत उन परम प्रभु की महिमा के गायन में लगे रहते हैं, जो देवताओं के स्वामी तथा समस्त जीवों के नियन्ता हैं।

तात्पर्य : जैसाकि समस्त अधिकारियों ने संस्तुति की है, मुक्ति का मार्ग महात्मा जनों की सेवा करना है। जहाँ तक भगवद्गीता का सम्बन्ध है, महात्माजन वे शुद्ध भक्त हैं जो ईश्वर के धाम वैकुण्ठ के मार्ग पर चलते हैं और जो शुष्क लाभरहित दर्शन की बातें न करके भगवान् की महिमा का सदैव कीर्तन तथा श्रवण करते हैं। संगति की यह प्रणाली सनातन से संस्तुत होती आई है, किन्तु इस कलह तथा दिखावे के युग में श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा इसकी विशेष रूप से संस्तुति की गई है। अनुकूल तपस्या की निधि न होने पर भी यदि कोई व्यक्ति उन महात्माओं की शरण में जाता है, जो भगवान् की महिमाओं के श्रवण और कीर्तन में लगे रहते हैं, तो वह भगवद्धाम वापस जाने के पथ पर अवश्य प्रगति कर सकता है।

सृष्ट्याग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् ।  
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः ॥ २१ ॥

### शब्दार्थ

सृष्ट्या—सृष्टि करके; अग्रे—प्रारम्भ में; महत्-आदीनि—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति आदि की; स-विकाराणि—इन्द्रिय विषयों सहित; अनुक्रमात्—विभेदन की क्रमिक विधि द्वारा; तेभ्यः—उसमें से; विराजम्—विराट रूप; उद्धृत्य—प्रकट करके; तम्—उसमें; अनु—बाद में; प्राविशत्—प्रवेश किया; विभुः—परमेश्वर ने।

सम्पूर्ण भौतिक शक्ति अर्थात् महत् तत्त्व की सृष्टि कर लेने के बाद तथा इन्द्रियों और इन्द्रिय विषयों समेत विराट रूप को प्रकट कर लेने पर परमेश्वर उसके भीतर प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि के उत्तरों से पूरी तरह तृष्ट होकर विदुर भगवान् के सृजन कार्य के शेष अंशों को भी समझना चाह रहे थे जिनका संकेत पिछली कथाओं से उन्होंने प्राप्त किया था।

यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्गयूरुबाहुकम् ।  
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं त आसते ॥ २२ ॥

**शब्दार्थ**

यम्—जो; आहुः—कहलाता है; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—विराट जगत का अवतार; सहस्र—हजार; अङ्घ्रि—पाँव; ऊरु—जंघाएँ; बाहुकम्—हाथ; यत्र—जिसमें; विश्वः—ब्रह्माण्ड; इमे—ये सब; लोकाः—लोक; स-विकाशम्—अपने-अपने विकासों के साथ; ते—वे सब; आसते—रह रहे हैं।

कारणार्णव में शयन करता पुरुष अवतार भौतिक सृष्टियों में आदि पुरुष कहलाता है और उनके विराट रूप में जिसमें सारे लोक तथा उनके निवासी रहते हैं, उस पुरुष के कई-कई हजार हाथ-पाँव होते हैं।

तात्पर्य : प्रथम पुरुष कारणोदकशायी विष्णु हैं, द्वितीय पुरुष गर्भोदकशायी विष्णु तथा तृतीय पुरुष क्षीरोदकशायी विष्णु हैं जिनमें विराट पुरुष की कल्पना की जाती है, जिसमें सारे लोक अपने विभिन्न विस्तीर्णताओं तथा निवासियों समेत तैरते रहते हैं।

यस्मिन्दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् ।  
त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः ॥ २३ ॥

**शब्दार्थ**

यस्मिन्—जिसमें; दश-विधः—दस प्रकार की; प्राणः—प्राणवायु; स—सहित; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—रुचि; इन्द्रियः—इन्द्रियों की; त्रि-वृत्—जीवनी शक्ति ( बल ) के तीन प्रकार; त्वया—आपके द्वारा; ईरितः—विवेचित; यतः—जिससे; वर्णाः—चार विभाग; तत्-विभूतीः—पराक्रम; वदस्व—कृपया वर्णन करें; नः—मुझसे।

हे महान् ब्राह्मण, आपने मुझे बताया है कि विराट रूप तथा उनकी इन्द्रियाँ, इन्द्रिय विषय तथा दस प्रकार के प्राण तीन प्रकार की जीवनीशक्ति के साथ विद्यमान रहते हैं। अब, यदि आप चाहें तो कृपा करके मुझे विशिष्ट विभागों ( वर्णों ) की विभिन्न शक्तियों का वर्णन करें।

यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः ।  
प्रजा विचित्राकृतय आसन्त्याभिरिदं ततम् ॥ २४ ॥

**शब्दार्थ**

यत्र—जिसमें; पुत्रैः—पुत्रों; च—तथा; पौत्रैः—पौत्रों; च—भी; नप्तृभिः—नातियों; सह—के सहित; गोत्र-जैः—एक ही परिवार की; प्रजाः—सन्तानें; विचित्र—विभिन्न प्रकार की; आकृतयः—इस तरह से की गई; आसन्—है; याभिः—जिससे; इदम्—ये सारे लोक; ततम्—विस्तार करते हैं।

हे प्रभु, मेरे विचार से पुत्रों, पौत्रों तथा परिजनों के रूप में प्रकट शक्ति ( बल ) सारे ब्रह्माण्ड

में विभिन्न रूपों तथा योनियों में फैल गयी है।

प्रजापतीनां स पतिश्चक्रिपे कान्प्रजापतीन् ।  
सर्गांश्चैवानुसर्गांश्च मनून्मन्वन्तराधिपान् ॥ २५ ॥

**शब्दार्थ**

प्रजा-पतीनाम्—ब्रह्मा इत्यादि देवताओं के; सः—वह; पतिः—अग्रणी; चक्रिपे—निश्चय किया; कान्—जिस किसी को; प्रजापतीन्—जीवों के पिताओं; सर्गान्—सन्तानें; च—भी; एव—निश्चय ही; अनुसर्गान्—बाद की सन्तानें; च—भी; मनून्—मनुओं को; मन्वन्तर-अधिपान्—तथा ऐसों के परिवर्तन।

हे विद्वान् ब्राह्मण, कृपा करके बतायें कि किस तरह समस्त देवताओं के मुखिया प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा ने विभिन्न युगों के अध्यक्ष विभिन्न मनुओं को स्थापित करने का निश्चय किया। कृपा करके मनुओं का भी वर्णन करें तथा उन मनुओं की सन्तानों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : मानव जाति या मनुष्य-सर मनुओं से उत्पन्न हुई जो प्रजापति ब्रह्मा के पुत्र तथा पौत्र हैं। मनु की सन्तानें समस्त विभिन्न लोकों में निवास करती हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर शासन करती हैं।

उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते ।  
तेषां संस्थां प्रमाणं च भूर्लोकस्य च वर्णय ॥ २६ ॥

**शब्दार्थ**

उपरि—सिर पर; अधः—नीचे; च—भी; ये—जो; लोकाः—लोक; भूमेः—पृथ्वी के; मित्र-आत्मज—हे मित्रा के पुत्र ( मैत्रेय मुनि ); आसते—विद्यमान हैं; तेषाम्—उनके; संस्थाम्—स्थिति; प्रमाणम् च—उनकी माप भी; भूः-लोकस्य—पृथ्वी लोकों का; च—भी; वर्णय—वर्णन कीजिये।

हे मित्रा के पुत्र, कृपा करके इस बात का वर्णन करें कि किस तरह पृथ्वी के ऊपर के तथा उसके नीचे के लोक स्थित हैं और उनकी तथा पृथ्वी लोकों की प्रमाण का भी उल्लेख करें।

तात्पर्य : यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति। यह वैदिक स्तोत्र जोर देकर इस बात को घोषित करता है कि भगवान् का भक्त भगवान् से सम्बन्धित समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुओं को जानता है। भक्तगण केवल भावुक ही नहीं होते जैसाकि कुछ अल्पज्ञों की भ्रान्त धारणा है। उनका दिशा बोध व्यावहारिक होता है। वे हर विद्यमान वस्तु को जानते हैं तथा विभिन्न सृष्टियों में भगवान् के आधिपत्य को सविस्तार जानते हैं।

तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्रिणाम् ।

वद नः सर्गसंब्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्धिदाम् ॥ २७ ॥

**शब्दार्थ**

तिर्यक्—मानवेतर; मानुष—मानव प्राणी; देवानाम्—अतिमानव प्राणियों या देवताओं का; सरीसृप—रेंगने वाले प्राणी; पतत्रिणाम्—पक्षियों का; वद—कृपया वर्णन करें; नः—मुझसे; सर्ग—उत्पत्ति; संब्यूहम्—विशिष्ट विभाग; गार्भ—गर्भस्थ; स्वेद—पसीना; द्विज—द्विजन्मा; उद्धिदाम्—लोकों आदि का।

कृपया जीवों का विभिन्न विभागों के अन्तर्गत यथा मानवेतर, मानव, भ्रूण से उत्पन्न, पसीने से उत्पन्न, द्विजन्मा ( पक्षी ) तथा पौधों एवं शाकों का भी वर्णन करें। कृपया उनकी पीढ़ियों तथा उपविभाजनों का भी वर्णन करें।

गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम् ।

सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम् ॥ २८ ॥

**शब्दार्थ**

गुण—प्रकृति के गुणों के; अवतारैः—अवतारों का; विश्वस्य—ब्रह्माण्ड के; सर्ग—सृष्टि; स्थिति—पालन; अप्यय—संहार; आश्रयम्—तथा चरम विश्राम; सृजतः—स्रष्टा का; श्रीनिवासस्य—भगवान् का; व्याचक्ष्व—कृपया वर्णन करें; उदार—उदार; विक्रमम्—विशिष्ट कार्यकलाप।

कृपया प्रकृति के गुणावतारों—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर—का भी वर्णन करें। कृपया पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार तथा उनके उदार कार्यकलापों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश्वर, जो कि भौतिक प्रकृति के तीन अवतार हैं, विराट जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के प्रमुख देव हैं, किन्तु वे अन्तिम अधिकारी नहीं हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण चरम लक्ष्य या समस्त कारणों के कारण हैं। वे आश्रय हैं अर्थात् समस्त वस्तुओं के अन्तिम विश्राम हैं।

वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः ।

ऋषीणां जन्मकर्माणि वेदस्य च विकर्षणम् ॥ २९ ॥

**शब्दार्थ**

वर्ण-आश्रम—सामाजिक पदों तथा आध्यात्मिक संस्कृति के चार विभाग; विभागान्—पृथक्-पृथक् विभागों; च—भी; रूप—निजी स्वरूप; शील-स्वभावतः—निजी चरित्र; ऋषीणाम्—ऋषियों के; जन्म—जन्म; कर्माणि—कार्यकलाप; वेदस्य—वेदों के; च—तथा; विकर्षणम्—कोटियों में विभाजन।

हे महर्षि, कृपया मानव समाज के वर्णों तथा आश्रमों के विभाजनों का वर्णन उनके लक्षणों, स्वभाव तथा मानसिक संतुलन एवं इन्द्रिय नियंत्रण के स्वरूपों के रूप के अनुसार करें। कृपया महर्षियों के जन्म तथा वेदों के कोटि-विभाजनों का भी वर्णन करें।

**तात्पर्य :** मानव समाज के चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चार आश्रम—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी—ये सभी विभाजन गुण, शिक्षा, संस्कृति तथा मन एवं इन्द्रियों पर संयम बरतने से उपलब्ध आध्यात्मिक प्रगतियाँ हैं। ये समस्त विभाग प्रत्येक व्यक्ति के विशिष्ट स्वभाव पर आधारित हैं, जन्म के सिद्धान्त पर नहीं। इस श्लोक में जन्म का उल्लेख नहीं हुआ है, क्योंकि जन्म सार हीन है। इतिहास में विदुर शूद्राणी माता से उत्पन्न होने के लिए प्रसिद्ध हैं; फिर भी योग्यता के अनुसार वे ब्राह्मण से भी बढ़कर हैं, क्योंकि वे यहाँ पर महर्षि मैत्रेय के शिष्य रूप में दिखते हैं। जब तक कोई कम से कम ब्राह्मण-योग्यता प्राप्त न कर ले तब तक वह वैदिक स्तोत्रों को नहीं समझ सकता। *महाभारत* भी वेदों का एक विभाग है, किन्तु यह स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विजबन्धुओं अर्थात् उच्चवर्ग की अयोग्य सन्तानों के लिए है। समाज का अल्पज्ञ वर्ग केवल *महाभारत* का अध्ययन करके वैदिक उपदेशों का लाभ उठा सकता है।

**यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो ।**

**नैष्कर्म्यस्य च साङ्ख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम् ॥ ३० ॥**

#### शब्दार्थ

यज्ञस्य—यज्ञों का; च—भी; वितानानि—विस्तार; योगस्य—योग शक्ति का; च—भी; पथः—मार्ग; प्रभो—हे प्रभु; नैष्कर्म्यस्य—ज्ञान का; च—तथा; साङ्ख्यस्य—वैश्लेषिक अध्ययन का; तन्त्रम्—भक्ति का मार्ग; वा—तथा; भगवत्—भगवान् के सम्बन्ध में; स्मृतम्—विधि-विधान।

कृपया विभिन्न यज्ञों के विस्तारों तथा योग शक्तियों के मार्गों, ज्ञान के वैश्लेषिक अध्ययन (सांख्य) तथा भक्ति-मय सेवा का उनके विधि-विधानों सहित वर्णन करें।

**तात्पर्य :** यहाँ पर *तन्त्रम्* शब्द महत्वपूर्ण है। कभी-कभी *तन्त्रम्* को भ्रान्तिवश इन्द्रियतृप्ति में लगे भौतिकतावादी व्यक्तियों का काला जादू समझ लिया जाता है, किन्तु यहाँ पर *तन्त्रम्* का अर्थ भक्ति का विज्ञान है, जिसका संग्रह श्रील नारद मुनि ने किया। मनुष्य भक्तिमार्ग की ऐसी विधि-मयी व्याख्याओं का लाभ उठाकर भगवद्भक्ति में प्रगति कर सकता है। सांख्य दर्शन ज्ञान प्राप्ति का मूल सिद्धान्त है जैसाकि मैत्रेय मुनि द्वारा बतलाया जाएगा। देवहूति-पुत्र कपिलदेव द्वारा प्रवर्तित सांख्य दर्शन परब्रह्म के विषय में ज्ञान का असली स्रोत है। जो ज्ञान सांख्य दर्शन पर आधारित नहीं है, वह मानसिक चिन्तन है और उससे कोई वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त हो सकता।



पाषण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् ।

जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः ॥ ३१ ॥

**शब्दार्थ**

पाषण्ड-पथ—अश्रद्धा का मार्ग; वैषम्यम्—विरोध के द्वारा अपूर्णता; प्रतिलोम—वर्णसंकर; निवेशनम्—स्थिति; जीवस्य—जीवों की; गतयः—गतिविधियाँ; याः—वे जैसी हैं; च—भी; यावतीः—जितनी; गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; कर्म-जाः—विभिन्न प्रकार के कर्म से उत्पन्न ।

कृपया श्रद्धाविहीन नास्तिकों की अपूर्णताओं तथा विरोधों का, वर्णसंकरों की स्थिति तथा विभिन्न जीवों के प्राकृतिक गुणों तथा कर्म के अनुसार विभिन्न जीव-योनियों की गतिविधियों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : प्रकृति के विभिन्न गुणों वाले जीवों के संयोग को वर्णसंकर या प्रतिलोम कहा जाता है। श्रद्धाविहीन नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, अतएव उनके दर्शन के मार्ग परस्पर विरोधी होते हैं। नास्तिकतावादी दर्शन कभी भी एक दूसरे से मेल नहीं खाते। जीव की विभिन्न योनियाँ प्रकृति के गुणों के मिश्रण की विविधता के प्रमाण हैं।

धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः ।

वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ॥ ३२ ॥

**शब्दार्थ**

धर्म—धार्मिकता; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इन्द्रियतृप्ति; मोक्षाणाम्—मोक्ष के; निमित्तानि—कारण; अविरोधतः—बिना विरोध के; वार्तायाः—जीविका के साधनों के सिद्धान्तों पर; दण्ड-नीतेः—कानून तथा व्यवस्था का; च—भी; श्रुतस्य—शास्त्र संहिता का; च—भी; विधिम्—नियम; पृथक्—विभिन्न ।

आप धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति तथा मोक्ष के परस्पर विरोधी कारणों का और उसी के साथ जीविका के विभिन्न साधनों, विधि की विभिन्न विधियों तथा शास्त्रों में उल्लिखित व्यवस्था का भी वर्णन करें।

श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन्पितृणां सर्गमेव च ।

ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम् ॥ ३३ ॥

**शब्दार्थ**

श्राद्धस्य—समय-समय पर सम्मानसूचक भेंटों का; च—भी; विधिम्—नियम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; पितृणाम्—पूर्वजों की; सर्गम्—सृष्टि; एव—जिस तरह; च—भी; ग्रह—ग्रह प्रणाली; नक्षत्र—तारे; ताराणाम्—ज्योतिषिण्डों; काल—समय; अवयव—अवधि; संस्थितिम्—स्थितियाँ।

कृपा करके पूर्वजों के श्राद्ध के विधि-विधानों, पितृलोक की सृष्टि, ग्रहों, नक्षत्रों तथा तारकों के काल-विधान तथा उनकी अपनी-अपनी स्थितियों के विषय में भी बतलाएँ।

तात्पर्य : दिन-रात तथा मास-वर्ष की अवधियाँ विभिन्न ग्रहों, नक्षत्रों तथा तारकों में भिन्न-भिन्न हैं। चन्द्रमा तथा शुक्र जैसे उच्चतरग्रहों में काल की प्रमाप पृथ्वी की अपेक्षा भिन्न है। कहा जाता है कि इस पृथ्वी ग्रह के छह मास उच्चतर ग्रहों के एक दिन के तुल्य हैं। भगवद्गीता में ब्रह्मलोक का एक दिन चतुर्युगों से एक हजार गुना वर्षों के तुल्य है अर्थात् ४,३००,००० वर्षों का एक हजार गुना वर्ष। ब्रह्मलोक में मास तथा दिन उसी के अनुसार परिमाणित होते हैं।

दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम् ।  
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि ॥ ३४ ॥

#### शब्दार्थ

दानस्य—दान का; तपसः—तपस्या का; वापि—बावड़ी; यत्—जो; च—तथा; इष्टा—प्रयास; पूर्तयोः—जलाशयों का; फलम्—सकाम फल; प्रवास-स्थस्य—घर से दूर रहने वाले का; यः—जो; धर्मः—कर्तव्य; यः च—और जो; पुंसः—मनुष्य का; उत—वर्णित; आपदि—आपत्ति में।

कृपया दान तथा तपस्या का एवं जलाशय खुदवाने के सकाम फलों का भी वर्णन करें। कृपया घर से दूर रहने वालों की स्थिति का तथा आपदग्रस्त मनुष्य के कर्तव्य का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : जनता के उपयोग हेतु जलाशय खुदवाना महत् दान कार्य है और पचास वर्ष की आयु के बाद गृहस्थ जीवन से वैराग्य लेना भद्र मनुष्य द्वारा सम्पन्न महान् तपस्या का कार्य है।

येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः ।  
सम्प्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि मेऽनघ ॥ ३५ ॥

#### शब्दार्थ

येन—जिससे; वा—अथवा; भगवान्—भगवान्; तुष्येत्—तुष्ट होता है; धर्म-योनिः—समस्त धर्मों का पिता; जनार्दनः—सारे जीवों का नियन्ता; सम्प्रसीदति—पूर्णतया तुष्ट होता है; वा—अथवा; येषाम्—जिनका; एतत्—ये सभी; आख्याहि—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे; अनघ—हे निष्पाप पुरुष।

हे निष्पाप पुरुष, चूँकि समस्त जीवों के नियन्ता भगवान् समस्त धर्मों के तथा धार्मिक कर्म करने वाले समस्त लोगों के पिता हैं, अतएव कृपा करके इसका वर्णन कीजिये कि उन्हें किस प्रकार पूरी तरह से तुष्ट किया जा सकता है।

**तात्पर्य :** समस्त धार्मिक कार्यकलाप अन्ततोगत्वा परमेश्वर को तुष्ट करने के लिए हैं। भगवान् समस्त धर्मों के पिता हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१६) में कहा गया है, चार प्रकार के पवित्र पुरुष—अर्थार्थी, आर्त, प्रबुद्ध (ज्ञानी) तथा जिज्ञासु भक्ति द्वारा भगवान् के पास पहुँचते हैं और इनकी भक्ति भौतिक स्नेह से मिश्रित होती है। किन्तु इन सबों के ऊपर वे शुद्ध भक्त हैं, जिनकी भक्ति सकाम कर्म या चिन्तनशील ज्ञान के किसी भौतिक कलुष से रंजित नहीं है। जो लोग जीवन भर केवल दुष्ट बने रहते हैं उनके जीवन की तुलना असुरों से की गई है। (*भगवद्गीता* ७.१५) चाहे वे कैसा भी शैक्षिक जीवन क्यों न बिताएँ, वे समस्त ज्ञान से वंचित ही रहते हैं। ऐसे लुच्चे कभी भी भगवान् को तुष्ट करने वाले व्यक्ति नहीं होते।

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ।  
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ॥ ३६ ॥

#### शब्दार्थ

अनुव्रतानाम्—अनुयायियों के; शिष्याणाम्—शिष्यों के; पुत्राणाम्—पुत्रों के; च—भी; द्विज-उत्तम—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ;  
अनापृष्टम्—अनपूछा; अपि—भी; ब्रूयुः—कृपया वर्णन करें; गुरवः—गुरुजन; दीन-वत्सलाः—दीनों के प्रति कृपालु।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, जो गुरुजन हैं, वे दीनों पर अत्यन्त कृपालु रहते हैं। वे अपने अनुयायियों, शिष्यों तथा पुत्रों के प्रति सदैव कृपालु होते हैं और उनके द्वारा बिना पूछे ही सारा ज्ञान प्रदान करते हैं।

**तात्पर्य :** प्रामाणिक गुरु से जानने योग्य अनेक विषय होते हैं। प्रामाणिक गुरु के लिए अनुयायी, शिष्य तथा पुत्र सभी एकसमान होते हैं और वह उन पर सदैव कृपालु रहता है तथा उनके न पूछने पर भी वह सदैव उन्हें दिव्य विषयों के बारे में बताता रहता है। यही प्रामाणिक गुरु का स्वभाव है। विदुर ने मैत्रेय मुनि से ऐसे विषयों के बारे में भी बताने के लिए अनुरोध किया जिन्हें उन्होंने उनसे न भी पूछा हो।

तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसङ्क्रमः ।  
तत्रेमं क उपासीरन्क उ स्विदनुशेरते ॥ ३७ ॥

#### शब्दार्थ

तत्त्वानाम्—प्रकृति के तत्त्वों का; भगवन्—हे महर्षि; तेषाम्—उनके; कतिधा—कितने; प्रतिसङ्क्रमः—प्रलय; तत्र—वहाँ;  
 इमम्—भगवान् को; के—वे कौन हैं; उपासीरन्—बचाया जाकर; के—वे कौन हैं; उ—जो; स्वित्—कर सकती है;  
 अनुशेरेते—भगवान् के शयन करते समय सेवा।

कृपया इसका वर्णन करें कि भौतिक प्रकृति के तत्त्वों का कितनी बार प्रलय होता है और इन प्रलयों के बाद जब भगवान् सोये रहते हैं उन की सेवा करने के लिए कौन जीवित रहता है?

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता (५.४७-४८) में कहा गया है कि जब महाविष्णु योगनिद्रा में रहते हैं, तो उनके श्वास लेते समय असंख्य ब्रह्माण्डों समेत सारे भौतिक जगत प्रकट तथा अप्रकट होते रहते हैं।

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः ।

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

यस्यैकनिश्चितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ॥

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“गोविन्द जो कि सर्वोच्च तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (कृष्ण) हैं अपनी उस निद्रा के समय असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने के लिए कारणार्णव में अनन्तकाल तक सोते रहते हैं। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा जल में लेटे रहते हैं। मैं उन आदि भगवान् की पूजा करता हूँ।”

“उनके श्वास लेने से असंख्य ब्रह्माण्डों का जन्म होता है और जब वे श्वास निकालते हैं, तो समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामियों का संहार हो जाता है। भगवान् का वह स्वांश महाविष्णु कहलाता है और वे भगवान् कृष्ण के अंश के अंश होते हैं। मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ।”

भौतिक जगतों के प्रलय के पश्चात्, न तो भगवान् का, न कारणार्णव के परे उनके राज्य का विलय होता है, न ही वहाँ के निवासी भगवान् के संगियों का। भगवान् के संगियों की संख्या उन जीवों से काफी अधिक है जिन्होंने भौतिक संगति के कारण भगवान् को भुला दिया है। मूल भागवत के अहमेवासमेवाग्रे इत्यादि चार श्लोकों में आये अहम् शब्द की निर्विशेषवादियों द्वारा की जाने वाली

व्याख्या का यहाँ खण्डन किया गया है। भगवान् तथा उनके नित्य संगी प्रलय के बाद बचे रहते हैं। विदुर द्वारा ऐसे व्यक्तियों के विषय में प्रश्न किया जाना भगवान् के समस्त साज-सामान के अस्तित्व का स्पष्ट सूचक है। इसकी पुष्टि काशीखंड में हुई है, जिसका उद्धरण श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती दोनों ने श्रील श्रीधर स्वामी का अनुसरण करते हुए दिया है।

न च्यवन्ते हि यद्भक्ता

महत्यां प्रलयापदि।

अतोऽच्युतोऽखिले लोके

स एकः सर्वगोऽव्ययः ॥

“सम्पूर्ण विराट जगत के प्रलय के बाद भी भगवद्भक्त कभी भी अपना निजी अस्तित्व नहीं खोते। भगवान् तथा उनके साथ रहने वाले भक्त इस जगत में तथा आध्यात्मिक जगत में सदैव शाश्वत हैं।”

पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च ।

ज्ञानं च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्यप्रयोजनम् ॥ ३८ ॥

#### शब्दार्थ

पुरुषस्य—जीव का; च—भी; संस्थानम्—अस्तित्व; स्वरूपम्—पहचान; वा—या; परस्य—परम का; च—भी; ज्ञानम्—ज्ञान; च—भी; नैगमम्—उपनिषदों के विषय में; यत्—जो; तत्—वही; गुरु—गुरु; शिष्य—शिष्य; प्रयोजनम्—अनिवार्यता।

जीवों तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में क्या क्या सच्चाइयाँ हैं? उनके स्वरूप क्या क्या हैं? वेदों में ज्ञान के क्या विशिष्ट मूल्य हैं और गुरु तथा उसके शिष्यों की अनिवार्यताएँ क्या हैं?

तात्पर्य : सारे जीव स्वाभाविक रूप से भगवान् के दास हैं और भगवान् हर एक से सभी प्रकार की सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं। यह स्पष्ट घोषणा की गई है ( भगवद्गीता ५.२९ ) कि भगवान् सारे यज्ञों तथा तपस्याओं के लाभों के परम भोक्ता, समस्त व्यक्त वस्तुओं के स्वामी तथा सारे जीवों के मित्र हैं। यही उनकी असली पहचान है। अतएव जब जीव भगवान् के इस परम स्वामित्व को स्वीकार करता है और उसी भाव से कार्य करता है, तो वह अपने असली स्वरूप को धारण कर लेता है। जीव को ज्ञान के इस मानदण्ड तक ऊपर उठाने के लिए आध्यात्मिक संगति की आवश्यकता होती है।

प्रामाणिक गुरु की इच्छा होती है कि उसके शिष्य भगवान् की दिव्य सेवा करने की विधि जानें और शिष्य भी यह जानते हैं कि उन्हें किसी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से ईश्वर तथा जीव के नित्य सम्बन्ध के विषय में सीखना चाहिए। इस दिव्य ज्ञान का वितरण करने के लिए मनुष्य को वैदिक ज्ञान के प्रकाश के बल पर सांसारिक कार्यकलापों से अवकाश ले लेना चाहिए। इस श्लोक के सारे प्रश्नों का यही सार-समाहार है।

निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघसूरिभिः ।

स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिवैराग्यमेव वा ॥ ३९ ॥

#### शब्दार्थ

निमित्तानि—ज्ञान का स्रोत; च—भी; तस्य—ऐसे ज्ञान का; इह—इस संसार में; प्रोक्तानि—कहे गये; अनघ—निष्कलंक; सूरिभिः—भक्तों द्वारा; स्वतः—आत्म-निर्भर; ज्ञानम्—ज्ञान; कुतः—कैसे; पुंसाम्—जीव का; भक्तिः—भक्ति; वैराग्यम्—विरक्ति; एव—निश्चय ही; वा—भी।

भगवान् के निष्कलुष भक्तों ने ऐसे ज्ञान के स्रोत का उल्लेख किया है। ऐसे भक्तों की सहायता के बिना कोई व्यक्ति भला किस तरह भक्ति तथा वैराग्य के ज्ञान को पा सकता है?

तात्पर्य : ऐसे अनेक अनुभवहीन व्यक्ति हैं, जो गुरु की सहायता के बिना आत्म-साक्षात्कार के होने की बात कहते हैं। वे गुरु की आवश्यकता की निन्दा करते हैं और इस सिद्धान्त का प्रचार करके कि गुरु आवश्यक नहीं होता उसके स्थान को स्वयं ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। किन्तु श्रीमद्भागवत इस दृष्टिकोण को मान्यता नहीं देता। महान् दिव्य विद्वान् व्यासदेव को भी गुरु की आवश्यकता पड़ी थी और उन्होंने अपने गुरु नारद के आदेश के अनुसार ही इस महान् ग्रन्थ श्रीमद्भागवत की रचना की। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी जो कि स्वयं भगवान् कृष्ण हैं, गुरु स्वीकार किया। यहाँ तक कि भगवान् कृष्ण ने भी प्रबुद्ध होने के लिए सान्दीपनि मुनि को अपना गुरु बनाया। संसार के सारे आचार्यों तथा सन्तों के गुरु थे। भगवद्गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण को अपना गुरु स्वीकार किया, यद्यपि ऐसी औपचारिक घोषणा की आवश्यकता नहीं थी। अतः सभी प्रकार से, गुरु स्वीकार करने की आवश्यकता के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। एकमात्र शर्त है कि गुरु प्रामाणिक हो अर्थात् गुरु को परम्परा प्रणाली की उचित शृंखला से आया हुआ होना चाहिए।

सूरि महान् विद्वान् होते हैं, किन्तु वे सदैव अनघ या निष्कलुष नहीं होते। अनघसूरि वह है, जो

भगवान् का शुद्ध भक्त होता है। जो भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं हैं या जो उनके समकक्ष बनना चाहते हैं, वे अनघसूरि नहीं हैं। शुद्ध भक्तों ने प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर ज्ञान के अनेक ग्रंथ लिखे हैं। श्रील रूप गोस्वामी तथा उनके सहायकों ने श्री चैतन्य महाप्रभु के निर्देशानुसार भावी भक्तों के मार्गदर्शन हेतु विविध ग्रन्थों की रचना की है और जो कोई भी भगवान् के शुद्ध भक्त के पद तक सच्चे मन से अपने को ऊपर ले जाना चाहता है उसे इन ग्रन्थों से लाभ उठाना चाहिए।

एतान्मे पृच्छतः प्रश्नान्हरेः कर्मविवित्सया ।

ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एतान्—ये सारे; मे—मेरे; पृच्छतः—पूछने वाले के; प्रश्नान्—प्रश्नों को; हरेः—भगवान् की; कर्म—लीलाएँ; विवित्सया—जानने की इच्छा करते हुए; ब्रूहि—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे; अज्ञस्य—अज्ञानी की; मित्रत्वात्—मित्रता के कारण; अजया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; नष्ट-चक्षुषः—वे जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी है।

हे मुनि, मैंने आपके समक्ष इन सारे प्रश्नों को अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि की लीलाओं को जानने के उद्देश्य से ही रखा है। आप सबों के मित्र हैं, अतएव कृपा करके उन सबों के लाभार्थ जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी है उनका वर्णन करें।

तात्पर्य : विदुर ने भगवान् की प्रेमाभक्ति के सिद्धान्तों को समझने के उद्देश्य से नाना प्रकार के प्रश्न पूछे। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में वर्णन हुआ है भगवान् की भक्ति अनन्य है और भक्त का मन अनिश्चितताओं की अनेक शाखाओं की ओर नहीं मुड़ता। विदुर का उद्देश्य भगवान् की उस सेवा में स्थिर बने रहना था जिसमें मनुष्य इधर-उधर भटके बिना लीन रहता है। उन्होंने मैत्रेय मुनि की मित्रता का दावा इसलिए नहीं किया कि वे मित्रा के पुत्र थे, किन्तु इसलिए किया कि मैत्रेय वस्तुतः उन सबों के मित्र थे जिन्होंने भौतिक प्रभाववश अपनी आध्यात्मिक दृष्टि खो दी है।

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ।

जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन्कलामपि ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी तरह के; वेदाः—वेदों के विभाग; च—भी; यज्ञाः—यज्ञ; च—भी; तपः—तपस्याएँ; दानानि—दान; च—तथा; अनघ—हे निष्कलुष; जीव—जीव; अभय—भौतिक पीड़ाओं से मुक्ति; प्रदानस्य—ऐसा आश्वासन देने वाले का; न—नहीं; कुर्वीरन्—बराबरी की जा सकती है; कलाम्—अंशतः भी; अपि—निश्चय ही।

हे अनघ, इन सारे प्रश्नों के आप के द्वारा दिए जाने वाले उत्तर समस्त भौतिक कष्टों से मुक्ति

दिला सकेंगे। ऐसा दान समस्त वैदिक दानों, यज्ञों, तपस्याओं इत्यादि से बढ़कर है।

तात्पर्य : सबसे बड़ा दान है सामान्य जनों को संसार की चिन्ताओं से मुक्ति दिलाना। ऐसा केवल भगवान् की भक्तिमय सेवा सम्पन्न करने से ही हो सकता है। ऐसा ज्ञान अनुपमेय है। वेदों के ज्ञान का अनुशीलन करना, यज्ञ करना तथा दान देना, ये सभी मिलकर भक्ति से प्राप्त होनेवाली तथा संसार की पीड़ा से मिलने वाली शान्ति के एक अंश के भी तुल्य नहीं हैं। मैत्रेय के दान से न केवल विदुर लाभान्वित होंगे, अपितु अपनी वसुधामयी प्रकृति के कारण यह दान सभी कालों में अन्य सबों का उद्धार करेगा। इस तरह मैत्रेय अमर हैं।

श्रीशुक उवाच

स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः ।

प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; इत्थम्—इस प्रकार; आपृष्ट—पूछे जाने पर; पुराण-कल्पः—जो वेदों के पूरकों (पुराणों) की व्याख्या करना जानता है; कुरु-प्रधानेन—कुरुओं के प्रधान द्वारा; मुनि-प्रधानः—प्रमुख मुनि; प्रवृद्ध—पर्याप्त रूप से समृद्ध; हर्षः—सन्तोष; भगवत्—भगवान् की; कथायाम्—कथाओं में; सञ्चोदितः—इस तरह प्रेरित होकर; तम्—विदुर को; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—मानो; आह—उत्तर दिया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह वे मुनियों में-प्रधान, जो भगवान् विषयक कथाओं का वर्णन करने के लिए सदैव उत्साहित रहते थे, विदुर द्वारा इस तरह प्रेरित किये जाने पर पुराणों की विवरणात्मक व्याख्या का बखान करने लगे। वे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के विषय में बोलने के लिए अत्यधिक उत्साहित थे।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि जैसे महान् विद्वान् मुनिगण भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का वर्णन करने के लिए सदैव अत्यधिक उत्साहित रहते हैं। इस तरह बोले जाने के लिए विदुर द्वारा आमंत्रित किये जाने पर मैत्रेय मुनि हँसते से प्रतीत हुए, क्योंकि उन्हें वास्तव में दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “विदुर द्वारा अन्य प्रश्न” नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।